

## ‘षडशीतिक’

नाम—

प्रस्तुत प्रकरण का ‘चौथा कर्मग्रन्थ’ यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम षडशीतिक है। यह ‘चौथा कर्मग्रन्थ’ इसलिए कहा गया है कि छह कर्मग्रन्थों में इसका नम्बर चौथा है; और ‘षडशीतिक’ नाम इसलिए नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं। इसके सिवाय इस प्रकरण को ‘सूक्ष्मार्थ विचार भी कहते हैं, सो इसलिए कि ग्रंथकार ने ग्रंथ के अंत में ‘सुहुमत्थवियारो’ शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरण के उक्त तीनों नाम अन्वर्थ—सार्थक हैं।

यद्यपि ट्ठावाली प्रति जो श्रीयुत् भीमसी माणिक द्वारा ‘निर्ययसागर प्रेस, बम्बई’ से प्रकाशित ‘प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग’ में छपी है, उसमें मूल गाथाओं की संख्या नवासी है, किन्तु वह प्रकाशक की भूल है। क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूप में छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण की विषय-संग्रह गाथाएँ हैं। अर्थात् इस प्रकरण में मुख्य क्या-क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषय से संबंध रखनेवाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन करनेवाली वे गाथाएँ हैं। अतएव ग्रंथकार ने उक्त तीन गाथाएँ स्वपोश टीका में उद्धृत की हैं, मूल रूप से नहीं ली हैं और न उन पर टीका की है।

संगति

पहले तीन कर्मग्रंथों के विषयों की संगति स्पष्ट है। अर्थात् पहले कर्मग्रंथ में मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या और उनका विपाक वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक गुणस्थान को लेकर उसमें यथासंभव बंध, उदय, उदीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रंथ में प्रत्येक मार्गस्थान को लेकर उसमें यथासंभव गुणस्थानों के विषय में उत्तर कर्मप्रकृतियों का बंधस्वामित्व वर्णन किया है। तीसरे कर्मग्रंथ में मार्गस्थानों में गुणस्थानों को लेकर बंधस्वामित्व वर्णन किया है सही, किन्तु मूल में कहीं भी यह विषय स्वतंत्र रूप से नहीं कहा गया है कि किस-किस मार्गस्थान में कितने-कितने और किन-किन गुणस्थानों का सम्भव है।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन किया है और उक्त

जिज्ञासा की पूर्ति की गई है। जैसे मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की जिज्ञासा होती है, वैसे ही जीवस्थानों में गुणस्थानों की और गुणस्थानों में जीवस्थानों की भी जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, बल्कि जीवस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की और मार्गणास्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की तथा गुणस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की भी जिज्ञासा होती है। इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना हुई है। इससे इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रखे गये हैं। और प्रत्येक अधिकार में क्रमशः आठ, छह तथा दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहली गाथा के भावार्थ में पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोट में संग्रह गाथाओं के द्वारा किया गया है। इसके सिवाय प्रसंग वश इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भावों का और संख्या का भी विचार किया है।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति के अनुसार मार्गणास्थानों में गुणस्थानों मात्र का प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य-अन्य विषयों का इस ग्रन्थ में अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नए-नए कई विषयों का वर्णन इसी ग्रन्थ में क्यों नहीं किया गया? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थ में सब विषयों का वर्णन असंभव है। अतएव कितने और किन विषयों का किस क्रम से वर्णन करना, यह ग्रन्थकार की इच्छा पर निर्भर है; अर्थात् इस बात में ग्रन्थकार स्वतंत्र है। इस विषय में नियोग-पर्यनुयोग करने का किसी को अधिकार नहीं है।

### प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ

‘षडशीतिक’ यह मुख्य नाम दोनों का समान है, क्योंकि गाथाओं की संख्या दोनों में बराबर छियासी ही है। परंतु नवीन ग्रन्थकार ने ‘सूक्ष्मार्थ विचार’ ऐसा नाम दिया है और प्राचीन की टीका के अंत में टीकाकार ने उसका नाम ‘आगमिक वस्तु विचारसार’ दिया है। नवीन की तरह प्राचीन में भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान ये तीन ही हैं। गौण अधिकार भी जैसे नवीन में क्रमशः आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीन में भी हैं। गाथाओं की संख्या समान होते हुए भी नवीन में यह विशेषता है कि उसमें वर्णनशैली संक्षिप्त करके ग्रन्थकार ने दो और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं। पहला विषय ‘भाव’ और दूसरा ‘संख्या’ है। इन दोनों का स्वरूप नवीन में सविस्तर है और प्राचीन में बिलकुल नहीं है। इसके सिवाय प्राचीन और नवीन का विषय-साम्य तथा क्रम-साम्य बराबर है। प्राचीन पर टीका, टिप्पणी, विवरण, उद्धार, भाष्य

आदि व्याख्याएँ नवीन की अपेक्षा अधिक हैं। हाँ, नवीन पर, जैसे गुजराती टबे हैं, वैसे प्राचीन पर नहीं हैं।

इस संबंध की विशेष जानकारी के लिए अर्थात् प्राचीन और नवीन पर कौन-कौन सी व्याख्या किस-किस भाषा में और किस किसकी बनाई हुई है, इत्यादि जानने के लिए पहले कर्मग्रंथ के आरम्भ में जो कर्मविषयक साहित्य की तालिका दी है, उसे देख लेना चाहिए।

**चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पञ्चसंग्रह तथा गोम्मटसार**

यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ का कोई-कोई (जैसे गुणस्थान आदि) विषय वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में नामांतर तथा प्रकारांतर से वर्णन किया हुआ मिलता है, तथापि उसकी समान कोटि का कोई खास ग्रंथ उक्त दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

जैन-साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर, दो सम्प्रदायों में विभक्त है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य में विशिष्ट विद्वानों की कृति स्वरूप ‘आगम’ और ‘पञ्चसंग्रह’ ये प्राचीन ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें कि चौथे कर्मग्रंथ का सम्पूर्ण विषय पाया जाता है, या यों कहिए कि जिनके आधार पर चौथे कर्मग्रंथ की रचना ही की गई है।

यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ में और जितने विषय जिस क्रम से वर्णित हैं, वे सब उसी क्रम से किसी एक आगम तथा पञ्चसंग्रह के किसी एक भाग में वर्णित नहीं हैं, तथापि भिन्न-भिन्न आगम और पञ्चसंग्रह के भिन्न-भिन्न भाग में उसके सभी विषय लगभग मिल जाते हैं। चौथे कर्मग्रंथ का कौन सा विषय किस आगम में और पञ्चसंग्रह के किस भाग में आता है, इसकी सूचना प्रस्तुत अनुवाद में उस-उस विषय के प्रसंग में टिप्पणी के तौर पर यथासंभव कर दी गई है, जिससे कि प्रस्तुत ग्रंथ के अभ्यासियों को आगम और पञ्चसंग्रह के कुछ उपयुक्त स्थल मालूम हों तथा मतभेद और विशेषताएँ ज्ञात हों।

प्रस्तुत ग्रंथ के अभ्यासियों के लिए आगम और पञ्चसंग्रह का परिचय करना लाभदायक है; क्योंकि उन ग्रंथों के गौरव का कारण सिर्फ उनकी प्राचीनता ही नहीं है, बल्कि उनकी विषय-गम्भीरता तथा विषयस्फुटता भी उनके गौरव का कारण है।

‘गोम्मटसार’ यह दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्म-विषयक एक प्रतिष्ठित ग्रंथ है, जो कि इस समय उपलब्ध है। यद्यपि वह श्वेताम्बरीय आगम तथा पञ्चसंग्रह की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है, फिर भी उसमें विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषय के लक्षण बहुत स्फुट हैं। गोम्मटसार के ‘जीवकाण्ड’ और ‘कर्मकाण्ड’-ये मुख्य दो विभाग हैं। चौथे कर्मग्रंथ का विषय जीवकाण्ड में ही

है और वह इससे बहुत बड़ा है। यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ के सब विषय प्रायः जीवकाण्ड में वर्णित हैं, तथापि दोनों की वर्णनशैली बहुत अंशों में भिन्न है।

जीवकाण्ड में मुख्य बीस प्ररूपणाएँ हैं—१ गुणस्थान, १ जीवस्थान, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और १ उपयोग, कुल बीस। प्रत्येक प्ररूपणा का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। अनेक स्थलों में चौथे ग्रंथ के साथ उसका मतभेद भी है।

इसमें संदेह नहीं कि चौथे कर्मग्रंथ के पाठियों के लिए जीवकाण्ड एक खास देखने की वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं। कर्म-विषयक अनेक विशेष बातें जैसे श्वेताम्बरीय ग्रंथों में लभ्य हैं, वैसे ही अनेक विशेष बातें, दिगम्बरीय ग्रंथों में भी लभ्य हैं। इस कारण दोनों संप्रदाय के विशेष-जिज्ञासुओं को एक दूसरे के समान विषयक ग्रंथ अवश्य देखने चाहिए। इसी अभिप्राय से अनुवाद में उस-उस विषय का साम्य और वैषम्य दिखाने के लिए जगह-जगह गोम्यस्यार के अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं।

### विषय-प्रवेश

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रंथ के लिए प्रवृत्ति नहीं करते। इस नियम के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन के निमित्त योग्य अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिए यह आवश्यक है कि शुरू में प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का परिचय कराया जाए। इसी को 'विषय-प्रवेश' कहते हैं।

विषय का परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकार से कराया जा सकता है।

(क) ग्रंथ किस तात्पर्य से बनाया गया है; उसका मुख्य विषय क्या है और वह कितने विभागों में विभाजित है; प्रत्येक विभाग से संबन्ध रखनेवाले अन्य कितने-कितने और कौन-कौन विषय हैं; इत्यादि वर्णन करके ग्रंथ के शब्दात्मक कलेवर के साथ विषय-रूप आत्मा के संबन्ध का स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रंथ का प्रधान और गौण विषय क्या-क्या है तथा वह किस-किस क्रम से वर्णित है, इसका निर्देश कर देना, यह विषय का सामान्य परिचय है।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषय का स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है।

प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का विशेष परिचय तो उस-उस विषय के वर्णन-स्थान में यथासंभव मूल में किंवा विवेचन में करा दिया गया है। अतएव इस जगह विषय का सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक एवं उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके यह बतलाया जाए कि अमुक-अमुक अवस्थाएँ औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्म-कृत होने से अस्थायी तथा हेय हैं; और अमुक-अमुक अवस्था स्वाभाविक होने के कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीव का स्वभाव प्रायः विकास करने का है। अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औपाधिक अवस्थाओं को त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत ग्रंथ में मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) संख्या।

इनमें से प्रथम मुख्य तीन विषयों के साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं— जीवस्थान में (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गणा स्थान में (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व, ये छः विषय वर्णित हैं तथा गुणस्थान में (१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध-हेतु, (६) बन्ध, (७) उदय (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प-बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। पिछले दो विषयों का अर्थात् भाव और संख्या का वर्णन अन्य-अन्य विषय के वर्णन से मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

इस तरह देखा जाए तो प्रस्तुत ग्रंथ के शब्दात्मक कलेवर के मुख्य पाँच हिस्से हो जाते हैं।

पहिला हिस्सा दूसरी गाथा से आठवीं गाथा तक का है, जिसमें जीवस्थान का मुख्य वर्णन कर के उसके संबंधी उक्त आठ विषयों का वर्णन किया गया है। दूसरा हिस्सा नवीं गाथा से लेकर चौवालिसवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया मार्गणास्थान को लेकर उसके संबंध से छः विषयों का वर्णन किया गया है। तीसरा हिस्सा पैंतालीसवीं गाथा से लेकर त्रेसठवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया गुणस्थान को लेकर उसके आश्रय से उक्त दस विषयों का वर्णन किया गया है। चौथा हिस्सा चौंसठवीं गाथा से लेकर सत्तरवीं गाथा तक का है, जिसमें केवल भावों का वर्णन है। पाँचवाँ हिस्सा इकहत्तरवीं गाथा से

छियासीवीं गाथा तक का है, जिसमें सिर्फ संख्या का वर्णन है। संख्या के वर्णन के साथ ही ग्रंथ की समाप्ति होती है।

जीवस्थान आदि उक्त मुख्य तथा गौण विषयों का स्वरूप पहली गाथा के भावार्थ में लिख दिया गया है; इसलिए फिर से यहाँ लिखने की जरूरत नहीं है। तथापि यह लिख देना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का उद्देश्य जो ऊपर लिखा गया है, उसकी सिद्धि जीवस्थान आदि उक्त विषयों के वर्णन से किस प्रकार हो सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव ये सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम किया जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति सापेक्ष हैं किंवा शारीरिक रचना के विकास या इंद्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। इसी से सब कर्म-कृत या वैभाविक होने के कारण अंत में हेय हैं। मार्गणास्थान के बोध से यह विदित हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्था रूप नहीं हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र और अनाहारकत्व के सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक हैं। अतएव स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए अन्त में वे हेय ही हैं। गुणस्थान के परिज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि गुणस्थान यह आध्यात्मिक उत्क्रांति करनेवाले आत्मा की उत्तरोत्तर-विकास-सूचक भूमिकाएँ हैं। पूर्व-पूर्व भूमिका के समय उत्तर-उत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी परिपूर्ण विकास हो जाने से वे सभी भूमिकाएँ आप ही आप छुट जाती हैं। भावों की जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावों को छोड़कर अन्य सब भाव चाहे वे उत्क्रांति काल में उपादेय क्यों न हों, पर अन्त में हेय ही हैं। इस प्रकार जीव का स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करने के लिए जीवस्थान आदि उक्त विचार जो प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है, वह आध्यात्मिक विद्या के अभ्यासियों के लिए अतीव उपयोगी है।

आध्यात्मिक ग्रंथ दो प्रकार के हैं। एक तो ऐसे हैं जो सिर्फ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का और दूसरे, अशुद्ध तथा मिश्रित स्वरूप का वर्णन करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ दूसरी कोटि का है। अध्यात्म-विद्या के प्राथमिक और माध्यमिक अभ्यासियों के लिए ऐसे ग्रंथ विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि उन अभ्यासियों की दृष्टि व्यवहार-परायण होने के कारण ऐसे ग्रंथों के द्वारा ही क्रमशः केवल पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति बनाई जा सकती है।

आध्यात्मिक-विद्या के प्रत्येक अभ्यासी की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है

कि आत्मा किस प्रकार और किम क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है, तथा उसे विकास के समय कैसी-कैसी अवस्था का अनुभव होता है। इस जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से देखा जाए तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थान का महत्त्व अधिक है। इस खयाल से इस जगह गुणस्थान का स्वरूप कुछ विस्तार के साथ लिखा जाता है। साथ ही यह भी बतलाया जाएगा कि जैनशास्त्र की तरह वैदिक तथा बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक विकास का कैसा वर्णन है। यद्यपि ऐसा करने में कुछ विस्तार अवश्य हो जाएगा तथापि नीचे लिखे जानेवाले विचार से जिज्ञासुओं की यदि कुछ भी ज्ञान-वृद्धि तथा रुचि-शुद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जाएगा।

### गुणस्थान का विशेष स्वरूप

गुणों ( आत्मशक्तियों ) के स्थानों को अर्थात् विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैनशास्त्र में गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्द का मतलब आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की—उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्थाओं से है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है। पर उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणों के घने बादलों की घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता। किंतु आवरणों के क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है। जब आवरणों की तीव्रता आखिरी हद्द की हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में—अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है। और जब आवरण त्रिलकुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्ध स्वरूप का लाभ करता हुआ चरम अवस्था की ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थान के समय इन दो अवस्थाओं के बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्था को अविकास की अथवा अग्र-पतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास की अथवा उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिए। इस विकासक्रम की मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओं को अपेक्षा से उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपरवाली अवस्था की अपेक्षा नीच और नीचेवाली अवस्था की अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है। पर जैनशास्त्र में 'संक्षेप में'

वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो 'चौदह गुणस्थान' कहलाते हैं।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की वैसी ही दशा हो जाती है। इसलिए आत्मा के विकास करने में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता समझनी चाहिए। इसी कारण गुणस्थानों की—विकास-क्रम-गत अवस्थाओं की कल्पना मोह-शक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमें से पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय किंवा जड़-चेतन का विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अश्र्वास—परपरिणति से छुटकर स्वरूप-लाभ नहीं करने देती। व्यवहार में पैर-पैर पर यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का यथार्थ दर्शन—बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्मा के लिए भी मुख्य दो ही कार्य हैं। पहला स्वरूप तथा पररूप का यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति जैनशास्त्र में 'दर्शन-मोह' और दूसरे कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति 'चारित्र्यमोह' कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती; और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोह की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक-स्थिति बिलकुल गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रम वाला मनुष्य पूर्व को पश्चिम मान-कर गति करता है और अपने इष्ट स्थान को नहीं पाता; उसका श्रम एक तरह से बृथा ही जाता है, वैसे प्रथम भूमिकावाला आत्मा पर-रूप को स्वरूप समझ कर उसी को पाने के लिए प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख

से वञ्चित रहता है। इसी भूमिका को जैनशास्त्र में 'बहिरात्मभाव' किंवा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं, उन सभी की आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सब के ऊपर मोह की सामान्यतः दोनो शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तरतम भाव अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है। विकास करना यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है। इसलिए जानते या अनजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। इसी स्थिति को जैनशास्त्र में 'ग्रन्थिमेद' कहा है।

ग्रन्थिमेद का कार्य बड़ा ही विषम है। राग-द्वेष का तीव्रतम विष-ग्रन्थि एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाए तो फिर बेड़ा पार ही समझिए; क्योंकि इसके बाद मोह की प्रधान शक्ति दर्शन मोह को शिथिल होने में देरी नहीं लगती और दर्शनमोह शिथिल हुआ कि चारित्र्यमोह की शिथिलता का मार्ग आप ही आप खुल जाता है। एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध में यानी मानसिक विकास और आत्मा की प्रतिद्वन्द्विता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाम करता है। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं जो करीब-करीब ग्रन्थिमेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर जयलाम नहीं करते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जयलाम कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में ही पड़े रहते हैं। कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता

१ गंठित्ति सुदुब्बेओ कक्खडधणरूढगूढगंठि व्व ।

जीवस्स कम्मजणिओ घणरागदोसपरिणामो ॥ ११६५ ॥

भिन्नम्मि तम्मि लाभो सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं ।

सो य दुल्लभो परिस्समचित्तविधायाइविग्घेहिं ॥ ११६६ ॥

सो तत्थ परिस्सम्मई धोरमहासमरनिग्गधाइ व्व ।

विज्जा य सिद्धिकाले जह बहुविग्घा तथा सोवि ॥ ११६७ ॥

—विशेषावश्यक भाष्य ।

है जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग कर के उस आध्यात्मिक युद्ध में राग-द्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा में डटे रहने का और जयलाभ करने का अनुभव हमें अक्सर नित्य प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकास का कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में उक्त प्रकार की तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्तिकाङ्क्षी जब अपने इष्ट के लिए प्रयत्न करता है तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देखकर प्रयत्न को छोड़ ही देता है या कठिनाइयों को पारकर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान्, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है। जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता।

इस भाव को समझाने के लिए शास्त्र<sup>१</sup> में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि

- १ जह वा तिन्नि मणुस्सा, जंतडविपहं सहावगमणेणं ।  
 बेलाइक्कमभीया, तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥ १२११ ॥  
 दट्ठुं मग्गतडत्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो ।  
 ब्रित्तिओ गहिओ तइओ, समइक्कंतुं पुरं पत्तो ॥ १२१२ ॥  
 अडवी भवो मणुसा, जीवा कम्मट्ठिई पहो दीहो ।  
 गंठी य भयट्ठाणं, रागदोसा य दो चोरा । १२१३ ॥  
 भग्गो ठिइपरिबुड्ढी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।  
 सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिणिण करणाणि ॥ १२१४ ॥

— विशेषावश्यक भाष्य ।

यथा जनास्त्रयः केऽपि, महापुरं यियासवः ।  
 प्राप्ताः क्वचन कान्तारे, स्थानं चौरैः भयंकरम् ॥ ६१६ ॥  
 तत्र द्रुतं द्रुतं यान्तो, ददृशुस्तकरद्वयम् ।  
 तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥ ६२० ॥  
 गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणय्य तौ ।  
 भयस्थानमतिक्रम्य, पुरं प्राप पराक्रमी ॥ ६२१ ॥

तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे। बीच में भयानक चोरों को देखते ही तीम में से एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरों से डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशल से उन चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया। मानसिक विकारों के साथ आध्यात्मिक युद्ध करने में जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा बहुत खयाल उक्त दृष्टान्त से आ सकता है।

प्रथम गुणस्थान में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोह की प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होते। इसलिए वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध व चरित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे आत्माओं की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण वस्तुतः मिथ्या दृष्टि, विपरीत दृष्टि या असत् दृष्टि ही कहलाती है तथापि वह सदृष्टि के समीप ले जानेवाली होने के कारण उपादेय मानी गई है<sup>१</sup>।

बोध, वीर्य व चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असत् दृष्टि के चार भेद करके मिथ्या दृष्टि गुणस्थान की अन्तिम अवस्था का शास्त्र में अच्छा चित्र खींचा गया है। इन चार दृष्टियों में जो वर्तमान होते हैं, उनको सदृष्टि लाभ करने में फिर देरी नहीं लगती।

दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽटवी ।

पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि देशस्त्वह भयास्पदम् ॥ ६२२ ॥

रागद्वेषौ तत्करौ द्वौ तद्भीतो वलितस्तु सः ।

ग्रंथि प्राप्यापि दुर्भावाद्यो ज्येष्ठस्थितिबन्धकः ॥ ६२३ ॥

चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्तादृग् रागादिबाधितः ।

ग्रंथि भिनन्ति यो नैव न चापि वलते ततः ॥ ६२४ ॥

स त्वभीष्टपुरं प्राप्तो योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम् ।

रागद्वेषावपाकृत्य सम्यग्दर्शनमाप्तवान् ॥ ६२५ ॥<sup>१</sup>

—लोकप्रकाश सर्ग ३ ।

१ 'मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राद्या अपि दृष्टयः ।

मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ ३१ ॥

—श्री यशोविजयजी-कृत योगावतारद्वात्रिंशिका ।

सद्बोध, सद्वीर्य व सच्चरित्र के तर-तम-भाव की अपेक्षा से सद्दृष्टि के <sup>१</sup> भी शास्त्र में चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्यागकर अथवा मोह की एक या दोनों शक्तियों को जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओं का समावेश होजाता है। अथवा दूसरे प्रकार से यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप भासित हो और उसकी प्राप्ति के लिए मुख्य प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि। इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् भासित हो और न उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्ति हो, वह असद्दृष्टि। बोध, वीर्य व चरित्र के तर-तम-भाव को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में दोनों दृष्टि के चार-चार विभाग किये गए हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओं का समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़ने से आध्यात्मिक विकास का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है।<sup>२</sup>

शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना के कारण अज्ञातरूप में ही गिरी-नदी-पाषण <sup>३</sup> न्याय से जब आत्मा का आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योल्लास की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकास-गामी आत्मा के परिणामों की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी बढ़ती

१—सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिः सा चाष्टधोदिता।

मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा ॥२५॥

तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा।

रत्नतारार्कचंद्राभा क्रमेणोष्वादिसन्निभा ॥२६॥

आद्याश्चतस्रः सापायपाता मिथ्यादृशामिह।

तत्त्वतो निरपायाश्च भिन्नग्रंथेस्तथोत्तराः ॥२८॥

—योगवतारद्वात्रिंशिका।

२ इसके लिए देखिए, श्रीहरिभद्रासूरि-कृत योगदृष्टिसमुच्चय तथा उपाध्याय यशोविजयजी-कृत २१ से २४ तक की चार द्वात्रिंशिकाएँ।

३ यथाप्रवृत्तकरणं नन्वनाभोगरूपकम्।

भवत्यनाभोगतश्च कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६७॥

यथा मिथो वर्षणेन प्रावाणोऽद्रिनदीगताः।

स्युश्चित्राकृतयो ज्ञानशून्या अपि स्वभावतः ॥६०८॥

तथा यथाप्रवृत्तास्त्युरप्यनाभोगलक्षणात्।

लघुस्थितिकर्माणो जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६०९॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

वह रागद्वेष की तीव्रतम—दुर्भेद ग्रंथि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःखसंवेदना-जनित अति अल्प आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में 'यथाप्रवृत्तिकरण', <sup>१</sup> कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है तब रागद्वेष की उस दुर्भेद ग्रंथि का भेदन किया जाता है। इस ग्रंथिभेदकारक आत्म-शुद्धि को 'अपूर्वकरण' <sup>२</sup> कहते हैं। क्योंकि ऐसा करण—परिणाम <sup>३</sup> विकासगामी आत्मा के लिए अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म-शुद्धि व वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोह पर अवश्य विजयलाभ करता है। इस विजयकारक आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में 'अनिवृत्तिकरण' <sup>४</sup> कहा है, क्योंकि उस आत्म-शुद्धि के हो जाने पर आत्मा दर्शनमोह पर जयलाभ बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकार की आत्म-

१ इसको दिग्भ्रमरसम्प्रदाय में 'अथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं। इसके लिए देखिए, तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६. १. १३.

२ तीव्रधारपशुकल्पाऽपूर्वाख्यकरणेन हि।

आविष्कृत्य परं वीर्यं ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥६१८॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

३ परिणामविशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम् ॥५६६॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

४ "अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना।

करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तसंमितम् ॥६२७॥

कृते च तस्मिन्मिथ्यात्वमोहस्थितिर्द्विधा भवेत्।

तत्राद्यान्तरकरणादधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥

तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्यादृक् स तदलवेदनात्।

अतीतायामथैतस्यां स्थितावन्तर्मुहूर्त्तः ॥६२९॥

प्राप्तोत्यन्तरकरणं तस्याद्यक्षणा एव सः।

सम्यक्त्वमौपशमिकमपौद्गलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥

यथा वनदवो दग्धेन्धनः प्राप्यातुर्यं स्थलम्।

स्वयं विधायति तथा, मिथ्यात्वोद्गदवानलः ॥६३१॥

अवाप्यान्तरकरणं क्षिप्रं विधायति स्वयम्।

तदौपशमिकं नाम सम्यक्त्वं लभतेऽमुमान् ॥६३२॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

शुद्धियों में दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अत्यन्त कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्यको—आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टांत के द्वारा किया जा सकता है।

जैसे; एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाए तो फिर बाकी का मल निकालने में किंवा किसी कारण-वश फिर से लगे हुए गदों को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्रको उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मल दूर करने में जो बल दरकार है, उसके सदृश 'यथाप्रवृत्तिकरण' है। चिकनाहट दूर करनेवाले विशेष बल व श्रम-के समान 'अपूर्वकरण' है, जो चिकनाहट के समान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मल को किंवा चिकनाहट दूर होने के बाद फिर से लगे हुए मल को कम करनेवाले बल-प्रयोग के समान 'अनिवृत्तिकरण' है। उक्त तीनों प्रकार के बल-प्रयोगों में चिकनाहट दूर करनेवाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे; किसी राजा ने आत्मरक्षा के लिए अपने अङ्गरक्षकों को तीन विभागों में विभजित कर रखा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागों से अधिक बलवान् हो, तब उसी को जीतने में विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारोंको शिथिल करने के लिए विकासगामी आत्मा को तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जानेवाला बल-प्रयोग ही, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रतरूप ग्रंथि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलों में से बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक दल के जीत लिए जाने पर फिर उस राजा का पराजय सहज होता है, इसी प्रकार राग-द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने पर दर्शन-मोह पर जयलाभ करना सहज है। दर्शनमोह को जीता और पहले गुण-स्थान की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररूप में स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है।

अतएव उसके प्रयत्न की गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बनकर कर्तव्य-अकर्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा को जैन-शास्त्र में 'अन्तरात्म भाव' कहते हैं, क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भाव को देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्मा-भावरूप निश्चय देव का दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रम की चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुणस्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास-रहित होती है। जिसको जैनशास्त्र में सम्यक्त्व कहा<sup>१</sup> है।

चतुर्थी से आगे की अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टिवाली ही समझनी चाहिए; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूप-दर्शन करने से आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक भ्रम दूर हुआ, अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुख को मैं तरस रहा था, वह परिणाम-विरस, अस्थिर एवं परिमित है; परिणाम-सुन्दर, स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप-प्राप्ति में ही है। तब वह विकासगामी आत्मा स्वरूप-स्थिति के लिए प्रयत्न करने लगता है।

मोह की प्रधान शक्ति—दर्शन मोह को शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेने के बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य-मोह को शिथिल न किया जाए, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा स्वरूप स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को मन्द करने के लिए प्रयास करता है। जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाता है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परपरिणति-त्याग होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह देशविरति-नामक पाँचवीं गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प-विरति से ही इतना अधिक शान्ति-लाभ हुआ तो फिर सर्व-विरति—

१ 'जिनोक्तादविपर्यस्ता सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।

सम्यक्त्वशालिनां सा स्यात्तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥५६६॥'

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

जड़ भावों के सर्वथा परिहार से कितना शान्ति-लाभ होगा ? इस विचार से प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान् होकर वह विकासगामी आत्मा चारित्र्यमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है । इस चेष्टा में कुतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति संयम प्राप्त होता है । जिसमें पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के काम में ही खर्च होता है । यह 'सर्वविरति' नामक षष्ठ गुण-स्थान है । इसमें आत्म-कल्याण के अतिरिक्त लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है । जिससे कभी-कभी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रमाद आ जाता है ।

पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा, इस छठे गुणस्थान में स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले से अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति के अनुभव में जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता । अतएव सर्व-विरति-जनित शान्ति के साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है । यही 'अप्रमत्त-संयत' नामक सातवें गुणस्थान है । इसमें एक ओर अप्रमाद-जन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिए उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं । इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा और कभी अप्रमाद की जाग्रति अर्थात् छठे और सातवें गुण-स्थान में अनेक बार जाता-आता रहता है । भँवर वा वातध्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है ।

प्रमाद के साथ होने वाले इस आन्तरिक युद्ध के समय विकासगामी आत्मा यदि अपना चारित्र्य-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों-प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस अवस्था को पारकर वह ऐसी शक्ति-वृद्धि की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे-सहे मोह-बल को नष्ट किया जा सके । मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिए की जाने वाली तैयारी की इस भूमिका को आठवाँ गुणस्थान कहते हैं ।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्म-शुद्धि इस गुणस्थान में हो जाती है। जिस से कोई विकासगामी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उसे बिल्कुल ही उपशान्त कर देता है। और विशिष्ट आत्म-शुद्धि वाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़ मूल से उखाड़ता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले अर्थात् अन्तरात्म-भाव के विकास द्वारा परमात्म-भाव रूप सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुँचने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोह को एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतएव जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेग से उस बर्तन को उड़ा ले भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राख के नीचे दबी हुई अग्नि हवा का भूकोरा लगते ही अपना कार्य करने लगती है, किंवा जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा स्रोम पाते ही ऊपर उठकर जल को गँदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भी मोह आन्तरिक युद्ध में थके हुए उन प्रथम श्रेणी वाले आत्माओं को अपने वेग के द्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जाने पर भी मोह, जिस भूमिका से आत्मा को हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोह को क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दूबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधःपतन का स्थान है; क्योंकि उसे पानेवाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणिवाले आत्मा मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालते हैं। सर्वथा निर्मूल करने की जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थान को पाने तक में अर्थात् मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाए तो चाहे पहली श्रेणिवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणिवाले, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणि वालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणिवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणिवालों में आत्म-शुद्धि व आत्म-बल विशिष्ट प्रकार का पाया जाता है। जैसे—किसी एक दर्जे के विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के तो

ऐसे होते हैं, जो सौ कोशिश करने पर भी एक बारगी अपनी परीक्षा में पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। पर दूसरे प्रकार के विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से सब कठिनाईयों को पारकर उस कठिनतम परीक्षा को बेधड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दल के इस अन्तर का कारण उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनाधिकता है। वैसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणिवाले तो दसवें गुणस्थान को पाकर अंत में ग्यारहवें गुणस्थान में मोह से हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणिवाले दसवें गुणस्थान को पाकर इतना अधिक आत्मबल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्ति का है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान को पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्थान को पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता; बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षा में नहीं पास होनेवाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रता से योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं; उसी प्रकार एक बार मोह से हार खानेवाले आत्मा भी अप्रमत्त-भाव व आत्मबल की अधिकता से फिर मोह को अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणिवाले आत्माओं की तर-तमभावपन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म-भाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़ने की दो सीढ़ियाँ हैं। जिनमें से एक को जैनशास्त्र में 'उपशमश्रेणि' और दूसरी को 'क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली ही है। पहली श्रेणि से गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतन के द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाए, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-न-कभी फिर वह दूने बल से और दूनी सावधानी से तैयार होकर मोह-शत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणि की योग्यता प्राप्त कर मोह का सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हरानेवाले शत्रु को फिर से हरा सकता है।

परमात्म-भाव का स्वराज्य प्राप्त करने में मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म-भाव के विशिष्ट विकास पर निर्भर है। मोह का सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैनशास्त्र में 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर

हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चरित्र आदि का लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुख का अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमा की रात में निरञ्ज चन्द्र की सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदिस भी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को जैनशास्त्र में तेरहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में चिरकाल तक रहने के बाद आत्मा दग्ध रज्जु के समान शेष आवरणों को अर्थात् अप्रधानभूत अधात्मिकों को उड़ाकर फेंक देने के लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानरूप पवन का आश्रम लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानद्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्त में शरीर-त्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति<sup>१</sup> है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है और यही अपुनरावृत्ति-स्थान है। क्योंकि संसार का एक मात्र कारण मोह है, जिसके सब संस्कारों का निःशेष नाश हो जाने के कारण अब उपाधिका संभव नहीं है।

यह कथा हुई पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के बारह गुणस्थानों की; इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थान की कथा, जो छूट गई है, वह यों है—सम्यक्त्व किंवा तत्त्वज्ञानवाली ऊपर की चतुर्थी आदि भूमिकाओं के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्त्वज्ञान-शून्य किंवा भ्रम्यादृष्टिवाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब नीचे में उस अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है वही दूसरा गुणस्थान है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुण-स्थान की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसलिए इसका नम्बर पहले के बाद रखा गया है, फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि

१ 'योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलास्त्यजेत् ।

इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः ।

रूपं व्यक्तात्मनः साधोर्निरञ्जस्य विधोरिव ॥८॥'

—ज्ञानसार, त्यागाष्टक ।

इस गुणस्थान को उत्क्रान्ति-स्थान नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथम गुणस्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा इस दूसरे स्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपर के गुणस्थान से गिरनेवाला ही आत्मा इसका अधिकारी बनता है। अधःपतन मोह के उद्रेक से होता है। अतएव इस गुणस्थान के समय मोह की तीव्र काषायिक शक्ति का अविर्भाव पाया जाता है। खीर आदि मिष्ठ भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न अतिमधुर न अति-अम्ल जैसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान के समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है। क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञान की निश्चित भूमिका पर है और न तत्त्व-ज्ञान-शून्य की निश्चित भूमिका पर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से खिसक कर जब तक जमीनपर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभव से भी प्रसिद्ध है कि जब किसी निश्चित उन्नत-अवस्था से गिरकर कोई निश्चित अवनत-अवस्था प्राप्त की जाती है, तब बीच में एक विलक्षण परिस्थिति खड़ी होती है।

तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला बन जाता है। अतएव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण सन्देहशील होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच। न तो वह तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप से ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है।

कोई उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधे ही तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है और कोई अवक्रान्ति करनेवाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करनेवाले और अवक्रान्ति करनेवाले—दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय-स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थान की दूसरे गुणस्थान से विशेषता है।

ऊपर आत्मा की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओं का बहुत संक्षेप में वर्गीकरण करके शास्त्र में शरीरधारी आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—ब्रह्मात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक—विशुद्ध रूप अत्यन्त आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यासवाला होकर पौद्गलिक विलासों को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करता है।

दूसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासों की ओर से हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। इसी से उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्था का दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर के घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था का दिग्दर्शन है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म-अवस्था का वर्णन<sup>१</sup> है।

आत्मा का स्वभाव शानमय है, इसलिए वह चाहे किसी गुणस्थान में क्यों न हो, पर ध्यान से कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यान के सामान्य रीति से (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीति से (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्र में<sup>२</sup> किये

१ 'अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा, ततः परन्तु परमात्मेति। तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा; व्यक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च।' —अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा १२५।

‘बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः।

कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥

अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्वकेवलज्ञानभागिनः।

मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥’

—योगावतारद्वात्रिशिका।

२ ‘आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।’—तत्त्वार्थ-अध्याय ६, सूत्र २६।

गए हैं। चार में से पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता के किंवा आत्म-विस्मृति के समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टि की गौणता व आत्मानुसन्धान-दशा में जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है। पहले तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर-तम-भाव से पाए जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवें तक पाँच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सिर्फ शुक्लध्यान होता है\* ।

गुणस्थानों में पाए जानेवाले ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा गुणस्थानों में किये हुए बहिरात्म-भाव आदि पूर्वोक्त विभाग से प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थान का अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकारी की नैसर्गिक महत्वाकांक्षा को ऊपर के गुणस्थानों के लिए उत्तेजित करता है।

### दर्शनान्तर के साथ जैनदर्शन का साम्य

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सभी में किसी-न-किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अतएव आर्यावर्त के जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनों में उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शन में गुणस्थान के नाम से, वैदिक दर्शन में भूमि-काश्यों के नाम से और बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थान का विचार, जैसा जैनदर्शन में सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनों की उस विचार के संबन्ध में बहुत-कुछ समता है। अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदि की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व के विषय में तीनों दर्शनों का भेद नहीं के बराबर ही है। वैदिकदर्शन के योगवासिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थों में आत्मा की भूमिकाओं का अच्छा विचार है।

१ इसके लिए देखिये, तत्त्वार्थ अ० ६, सूत्र ३५ से ४०। ध्यानशतक, गा०, ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभद्री टीका पृ० ६०२। इस विषय में तत्त्वार्थ के उक्त सूत्रों का राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बरग्रंथों से थोड़ा सा मतभेद है।

जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मा में अर्थात् आत्म-भिन्न जड़तत्त्व में आत्म-बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा <sup>१</sup> है। योग-वासिष्ठ में <sup>२</sup> तथा पातञ्जल-योग सूत्र <sup>३</sup> में अज्ञानी जीव का वही लक्षण है। जैनशास्त्र में मिथ्यात्वमोह का संसार-बुद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है <sup>४</sup>। वही बात योगवासिष्ठ के

१ 'तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः ।'

—तत्त्वार्थ-राजवार्तिक ६, १, १२ ।

'आत्मधिया समुपात्तकायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा ।

कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥'

—योगशास्त्र, प्रकाश १२ ।

'निर्मलस्फटिकस्येव सहजं रूपमात्मनः ।

अध्यस्तोपाधिसंनद्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

'नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।

अविद्या तत्त्वधीर्विद्या योगचार्यैः प्रकीर्तिता ॥१॥'

—ज्ञानसार विद्याष्टक ।

'भ्रमवाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छ्रया तदीक्षणम् ।

अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाऽऽशया ॥२॥'

—ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि-अष्टक ।

२ 'यस्याऽज्ञानात्मनो ज्ञस्य, देह एवात्मभावना ।

उदितेति रुषैवाक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥'

—निर्वाण-प्रकरण; पूर्वार्ध सर्ग ६ ।

३ 'अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।'

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन-पाद, सूत्र ५ ।

४ 'समुदायावयवयोर्वन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् ।'

—तत्त्वार्थ-राजवार्तिक ६, १, ३१ ।

'विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम् ।

भवोच्चतालमुत्तालप्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥'

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

निर्वाण<sup>१</sup> प्रकरण में अज्ञान के फलरूप से कही गई है। (२) योग-वासिष्ठ-निर्वाण प्रकरण पूर्वार्धमें अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का<sup>२</sup> नाश, यह क्रम जैसा वर्णित है, वही क्रम जैन-शास्त्र में मिथ्याज्ञान और सम्यक्-ज्ञान के निरूपणद्वारा जगद्-जगद् वर्णित है। (३) योगवासिष्ठ के उक्त प्रकरण में<sup>३</sup> ही जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बतलाया है, वह जैनशास्त्र में माने हुए मतिज्ञान आदि ज्ञायोपशमिकज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और ज्ञायिकज्ञान से ज्ञायोपशमिक ज्ञान के नाश के समान है। (४) जैनशास्त्र में मुख्यतया मोह को ही बन्ध का—संसार का हेतु माना है। योगवासिष्ठ<sup>४</sup> में वही बात रूपान्तर से कही गई है। उसमें जो दृश्य के अस्तित्व को बन्ध का कारण कहा है; उसका

१. 'अज्ञानात्प्रसृता यस्माज्जगत्पण्यपरम्पराः ।

यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति विलसन्ति च ॥५३॥'

'आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्वमाद्यन्तवत्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।

अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि'

॥६१॥ पूर्वार्द्ध, सर्ग ६,

२. 'जन्मपूर्वाहिना रन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।

भोगाभोगरसापूर्णा, विचारैकधुणक्षता ॥११॥'

सर्ग ८ ।

३. 'मिथःस्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ।

अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥२३॥

एते राघव लीयेते, अवाप्यं परिशिष्यते ।

अविद्यासंक्षयात् क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥२४॥'

सर्ग ६ ।

४. 'अविद्या संसृतिर्वन्धो, माया मोहो महत्तमः ।

कल्पितानीति नामानि, यस्याः सकलवेदिभिः ॥२०॥'

'दृष्टुर्द्रश्यस्य सत्ताऽङ्गबन्ध इत्यभिधीयते ।

द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥'

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १ ।

'तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा ।

विनिहत्येवमेधान्तर्द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥३८॥'

—उत्पत्ति प्र० सर्ग ३ ।

तात्पर्य दृश्यके अभिमान या अध्यास से है। (५) जैसे, जैनशास्त्र में ग्रन्थिभेद का वर्णन है वैसे ही योगवासिष्ठ में <sup>१</sup> भी है। (६) वैदिक ग्रन्थों का यह वर्णन कि ब्रह्म, माया के संसर्ग से संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि रचता है; तथा स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का कल्प के अन्त में नाश होता है <sup>२</sup>, इत्यादि बातों की संगति जैनशास्त्र के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है—आत्मा का अव्यवहार-राशि से व्यवहारराशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल मन के द्वारा संज्ञित्व प्राप्त करके कल्पनाजाल में आत्मा का विचरण करना संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है। शुद्ध आत्म-स्वरूप व्यक्त होने पर सांसारिक पर्यायों का नाश होना ही कल्प के अन्त में स्थावर-जंगमात्मक जगत् का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़-सत्ताको स्वसत्ता मानता है, जो अहंत्व-ममत्व भावना रूप मोह का उदय और बन्ध का कारण है। वही अहंत्व-ममत्व भावना वैदिक वर्णन-शैली के अनुसार बन्धहेतुभूत दृश्य सत्ता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकाश, स्वर्ग, नरक आदि जो जीव की अवस्थाएँ वैदिक ग्रन्थों में वर्णित <sup>३</sup> हैं, वे ही जैन-दृष्टि के अनुसार व्यवहार-राशि-गत जीव के पर्याय हैं। (७) योगवासिष्ठ में <sup>४</sup> स्वरूप स्थिति को ज्ञानी का और स्वरूप-

१. ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता ।

मृगतृष्णाभुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥<sup>१</sup>

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८

२. 'तत्स्वयं स्वैरमेवाशु, संकल्पयति नित्यशः ।

तेनेत्यभिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥१६॥<sup>२</sup>

'यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

तत्सुषुप्ताविब स्वप्नः, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥<sup>३</sup>

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १ ।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इबोल्लसन् ।

जीवतामुपयातीव, भाविनाम्रा कदर्थिताम् ॥१३॥<sup>४</sup>

३. उत्पद्यते यो जगति, स एव किल वर्धते ।

स एव मोक्षमाप्नोति, स्वर्गं वा नरकं च वा ॥७॥<sup>५</sup>

उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १ ।

४. 'स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ।

एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥<sup>६</sup>

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११७ ।

भ्रंश को अशानी का लक्षण माना है। जैनशास्त्र में भी सम्यक् ज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही स्वरूप <sup>१</sup> बतलाया है। (८) योगवासिष्ठ में <sup>२</sup> जो सम्यक् ज्ञान का लक्षण है, वह जैनशास्त्र के अनुकूल है। (९) जैनशास्त्र में सम्यक् दर्शन की प्राप्ति, (१) स्वभाव और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकार से बतलाई है <sup>३</sup>। योगवासिष्ठ में भी ज्ञान प्राप्ति का वैसा ही क्रम सूचित किया <sup>४</sup> है। (१०) जैनशास्त्र के चौदह गुणस्थानों के स्थान में चौदह भूमिकाओं का वर्णन योगवासिष्ठ में <sup>५</sup> बहुत रुचिकर व विस्तृत है। सात भूमिकाएँ ज्ञान की और

१. 'अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्व्यकृत ।

अथमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥'

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते ।

ध्यान्यमात्रमतस्त्वन्यत्तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥'

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

२. 'अनाद्यन्तावभासाश्मा, परमास्मेह विद्यते ।

इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥२॥'

—उपशम-प्रकरण, सर्ग ७६ ।

३. 'तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।'

—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ३ ।

४. 'एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छूनैः शनैः ।

जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥३॥

द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किञ्चिद्ध्युत्पन्नचेतसा ।

भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥४॥'

—उपशम-प्रकरण, सर्ग ७ ।

५. 'अज्ञानभूः सप्तपदा, ज्ञभूः सप्तपदैव हि ।

पदान्तराण्यसंख्यानि, भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥२॥

तत्रारोपितमज्ञानं तस्य भूमीरिमाः शृणु ।

बीजजाग्रत्तथाजाग्रत्, महाजाग्रत्तथैव च ॥११॥

जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।

इति सप्तविधो मोहः, पुनरेव परस्परम् ॥१२॥

क्रिष्टो भवत्यनेकाख्यः शृणु लक्षणमस्य च ।

प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चित्तः ॥१३॥

सात अज्ञान की वतलाई हुई हैं, जो जैन-परिभाषा के अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्वकी अवस्था की सूचक हैं। (११) योगवासिष्ठ में तत्त्वज्ञ,

भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ।  
 बीजरूपं स्थितं जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥१४॥  
 एषा कृतेर्नवावस्था, त्वं जाग्रत्संस्मृतिं शृणु ।  
 नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ॥१५॥  
 इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।  
 अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ॥१६॥  
 पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो, महाजाग्रदिति स्फुटम् ।  
 अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥१७॥  
 यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।  
 द्विचन्द्रशुक्तिकारुण्यमृगतृष्णादिभेदतः ॥१८॥  
 अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।  
 अल्पकालं मया दृष्टं, एवं नो सत्यमित्यपि ॥१९॥  
 निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।  
 स स्वप्नः कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥२०॥  
 चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद् वपुः ।  
 स्वप्नो जाग्रत्तयारूढो, महाजाग्रत्पदं गतः ॥२१॥  
 अक्षते वा क्षते देहे, स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।  
 षडवस्थापरित्यागे, जडा जीवस्य या स्थितिः ॥२२॥  
 भविष्यदुःखबोधक्या, सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।  
 एते तस्यामवस्थायां तृणलोठशिलादयः ॥२३॥  
 पदार्थाः संस्थिताः सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः ।  
 सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राघव ॥२४॥

उत्पत्ति-प्रकरणं सर्ग ११७ ।

‘ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।  
 विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ॥५॥  
 सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततो संसक्तिनामिका ।  
 पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥६॥  
 आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।  
 एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥७॥

समदृष्टि, पूर्णाश्रय और मुक्त पुरुष का जो वर्णन<sup>१</sup> है, वह जैन-संकेतानुसार चतुर्थ आदि गुणस्थानों में स्थित आत्मा को लागू पड़ता है। जैनशास्त्र में जो ज्ञान का महत्त्व वर्णित<sup>२</sup> है, वही योगवासिष्ठ में प्रज्ञामाहात्म्य के नाम से

स्थितः किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।

वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥८॥

शास्त्रसज्जनसंपर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।

सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥९॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।

यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥१०॥

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।

सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥११॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफलेन च ।

रूढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥१२॥

भूमिकापञ्चकाम्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।

आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥१३॥

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।

पदार्थाभावना नाम्नी, षष्ठी संजायते गतिः ॥१४॥

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः ।

यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥१५॥'

उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८ ।

१ योग० निर्वाण-प्र०, सर्ग १७८; निर्वाण-प्र० उ, सर्ग ११६ ।

योग० स्थिति-प्रकरण, सर्ग ७५; निर्वाण-प्र० स० १६६ ।

२ 'जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्तृष्णा कृष्णाऽहिजाह्वली ।

पूर्णानन्दस्य तत्किं स्यादैन्यवृश्चिकवेदना ॥४॥'

— ज्ञानसार, पूर्णाष्टक ।

'अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रशैः ।

प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोष्नी दृष्टिरेव चेत् ॥६॥

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिरोभितः ।

निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥

पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।

अनन्यापेक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥'

ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

‘संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।  
 लिप्यते निखिलो लोको ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥  
 नाहं पुद्गलभावानां कर्ता कारयिता च न ।  
 नानुमन्तापि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥२॥  
 लिप्यते पुद्गलस्कन्धो न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।  
 चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥  
 लिप्तज्ञानसंपातप्रतिधाताय केवलम् ।  
 निर्लेपज्ञानमग्रस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥  
 तपःश्रुतादिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।  
 भावनाज्ञानसंपन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥’

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

‘छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।  
 मुखशोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥३॥’

ज्ञानसार, निःस्पृहाष्टक ।

‘मिथो युक्तपदार्थानामसंकमचमत्क्रिया ।  
 चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥७॥  
 अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।  
 पश्यन्ति परमात्मानमात्मन्येव हि योगिनः ॥८॥’

ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

‘भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मनां ।  
 सदा भयोर्ज्झितं ज्ञानमुखमेव विशिष्यते ॥२॥  
 न गोप्यं क्वापि नारोप्यं द्वेयं देयं च न क्वचित् ।  
 क्व भयेन मुनेः स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ॥३॥  
 एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निष्पन्नमोहचमूं मुनिः ।  
 त्रिमेति नैव संग्रामशीर्षस्थ इव नागराट् ॥४॥  
 मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चेत्प्रसर्पति मनोवने ।  
 वेष्टनं भयसर्पाणां न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥५॥  
 कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म त्रिभर्ति यः ।  
 क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसंगरकेलिषु ॥६॥  
 तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यग्रे भयानिलैः ।  
 नैकं रोमापि तैर्ज्ञानगरिष्ठानां तु कम्पते ॥७॥’

उल्लिखित है १ ।

चित्तं परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।

अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ॥८॥'

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक ।

'अदृष्टार्थे तु धावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः ।

प्राप्नुवन्ति परं खेदं प्रस्वलन्तः पदे पदे ॥५॥

'अज्ञानाहिमहामन्त्रं स्वाच्छन्धज्वरलंघनम् ।

धर्माराममुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥७॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।

शास्त्रैकदृग्महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ॥८॥'

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक ।

'ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।

तदाम्यन्तरमेवेष्टं बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥१॥

आनुस्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानां सुखशीलता ।

प्राप्तिस्त्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तपः ॥२॥

सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरन्वतः ।

ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥४॥'

ज्ञानसार, तपोष्टक ।

१ 'न तद्गुरोर्न शास्त्रार्थान्न पुण्यात्प्राप्यते पदम् ।

यत्साधुसङ्गाभ्युदिताद्विचारविशदाद्भृदः ॥१७॥

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या, प्रज्ञेयेव वयस्यया ।

पदमासाद्यते राम, न नाम क्रिययाऽन्यथा ॥१८॥

यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा, पूर्वापरविचारिणी ।

प्रज्ञादीपशिखा जातु, जाड्याभ्यं तं न बाधते ॥१९॥

दुरुत्तरा या विप्रदो दुःखकल्लोलसंकुलाः ।

तीर्यते प्रज्ञया ताम्यो नावाऽपद्भ्यो महामते ॥२०॥

प्रज्ञाविरहितं मूढमापदल्पापि बाधते ।

पेलवाचानिलकला सारहीनमिवोलपम् ॥२१॥

'प्रज्ञावानसहोऽपि कार्यान्तमधिगच्छति ।

दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य, प्रधानमपि नश्यति ॥२३॥

शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत् ।

सैकसंरक्षणारम्भैः फलप्राप्तौ लतामिव ॥२४॥

प्रज्ञाबलबृहन्मूलः, काले सत्कार्यपादपः ।  
 फलं फलत्यतिस्वादु भासोर्विभ्रमिवैन्दवम् ॥२५॥  
 य एव यत्नः क्रियते, बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।  
 स एव यत्नः कर्तव्यः, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥  
 सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।  
 बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्रं विनाशयेत् ॥२७॥  
 स्वर्गाद्यद्यच्च पातालाद्राज्याद्यत्समवाप्यते ।  
 तत्समासाद्यते सर्वं प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥  
 प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमात्तस्मात्संसारसागरात् ।  
 न दानैर्न च वा तीर्थैस्तपसा न च राघव ॥२९॥  
 यत्प्राप्ताः संपदं दैवीमपि भूमिचरा नराः ।  
 प्रज्ञापुण्यलतायास्तत्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥  
 प्रज्ञया नखरालूनमचवारणयूथपाः ।  
 जम्बुकैर्विजिताः सिंहा, सिंहैर्हरिणका इव ॥३१॥  
 सामान्यैरपि भूषत्वं प्राप्तं प्रज्ञावशान्नरैः ।  
 स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥३२॥  
 प्रज्ञया बाधिनः सर्वे स्वविकल्पधिलासिनः ।  
 जयन्ति सुमयप्रख्यान्नरानप्यतिभीरवः ॥३३॥  
 चिन्तामणिरियं प्रज्ञा हृत्कोशस्था विवेकिनः ।  
 फलं कल्पलतेवैषा, चिन्तितं सम्प्रयच्छति ॥३४॥  
 भव्यस्तरति संसारं प्रज्ञयापोह्यतेऽधमः ।  
 शिक्षितः पारमान्नोति, नावा नान्नोत्पशिक्षितः ॥३५॥  
 धीः सम्यग्योजिता पारमसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।  
 नरं नयति संसारे, भ्रमन्ती नौरिवारणवे ॥३६॥  
 विवेकिनमसंमूढं प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।  
 दोषा न परित्राधन्ते, सन्नद्धमिव सायकाः ॥३७॥  
 प्रज्ञयेह जगत्सर्वं सम्यगेवाङ्ग दृश्यते ।  
 सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च संपदः ॥३८॥  
 पिधानं परमार्कस्य, जडात्मा विततोऽसितः ।  
 अहंकाराम्बुदो मत्तः, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥”

उपशम-प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य ।

## योगसंबन्धी विचार

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है? गुणस्थान के किंवा अज्ञान व ज्ञान-की भूमिकाओं के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि आत्मा का आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है और योग के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मोक्ष का साधन क्या है? अर्थात् गुणस्थान में आध्यात्मिक विकास के क्रम का विचार मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार मुख्य है। इस प्रकार दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न-भिन्न होने पर भी एक के विचार में दूसरे की छाया अवश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्ष के अन्तिम—अनन्तर या अव्यवहित—साधन को प्रथम ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भवित साधनों को सोपान-परम्परा की तरह प्राप्त करता हुआ अन्त में चरम साधन को प्राप्त कर लेता है। अतएव योग के—मोक्षसाधन-विषयक विचार में आध्यात्मिक विकास के क्रम की छाया आ ही जाती है। इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है, इसका विचार करते समय आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम, जो मोक्ष के साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है। इसलिए गुणस्थान के वर्णन-प्रसंग में योग का स्वरूप संक्षेप में दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है।

योग किसे कहते हैं?—आत्मा का धर्म-व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु अर्थात् उपादानकारण तथा बिना विलम्ब से फल देनेवाला हो, उसे योग <sup>१</sup> कहते हैं। ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ भाव या शुभभावपूर्वक की जानेवाली क्रिया <sup>२</sup> है। पातञ्जलदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोधको योग <sup>३</sup> कहा है। उसका भी वही मतलब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य-रूप से शुभ भाव का अवश्य संबंध होता है।

१ 'मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते।

लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारतास्य तु ॥१॥'

—योगलक्षण द्वात्रिंशिका।

२ 'प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा।

सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशयाः ॥१०॥'

'एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया।

प्रस्युत प्रत्ययायाय, लोभक्रोधक्रिया तथा ॥१६॥'

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

३ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

योग का आरम्भ कब से होता है ?

आत्मा अनादि काल से जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ा है और उसमें नाना प्रकार के व्यापारों को करता रहता है। इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार को कब से योगस्वरूप माना जाए ? इसका उत्तर शास्त्र में <sup>१</sup> यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्व से व्याप्त बुद्धिवाला, अतएव दिङ्मूढ की तरह उल्टी दिशा में गति करनेवाला अर्थात् आस्था—लक्ष्य से भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ-योग रहित होने के कारण योग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब से मिथ्यात्व का तिमिर कम होने के कारण आत्मा की भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्ग के अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापार को प्रणिधान आदि शुभ-भाव सहित होने के कारण 'योग' संज्ञा दी जा सकती है। सारांश यह है कि आत्मा के अनादि सांसारिक काल के दो हिस्से हो जाते हैं। एक चरमपुद्गलपरावर्त और दूसरा अचरम पुद्गल परावर्त कहा जाता है। चरम पुद्गलपरावर्त अनादि सांसारिक काल का आखिरी और बहुत छोटा अंश <sup>२</sup> है। अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है; क्योंकि चरम-पुद्गलपरावर्त को बाद करके अनादि सांसारिक काल, जो अनंतकालचक्र-परिमाण है, वह सब अचरम पुद्गलपरावर्त कहलाता है। आत्मा का सांसारिक काल, जब चरमपुद्गलपरावर्त-परिमाण बाकी रहता है, तब उसके ऊपर से मिथ्यात्वमोह का आवरण हटने लगता है। अतएव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं। और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है। ऐसी क्रिया से भाव-शुद्धि और भी बढ़ती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव-शुद्धि बढ़ते जाने के कारण चरम पुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार को योग कहा है। अचरम पुद्गलपरावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ-भावपूर्वक होता है और न शुभ-भाव का कारण ही होता है। इसलिए

१ 'मुख्यत्वं चांतरङ्गत्वात्फलाक्षेपाच्च दर्शितम्।

चरमे पुद्गलावर्ते यत एतस्य संभवः ॥२॥

न सन्मर्गाभिमुख्यं स्यादावर्तेषु परेषु तु।

मिथ्यात्वाच्छन्नबुद्धीनां दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥३॥'

—योगलक्षणद्वानिश्चिका।

२ चरमावर्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता भ्रुवम्।

भूयांसोऽमी व्यक्तिकान्तास्तेष्वेको विन्दुरम्बुधौ ॥२८॥

—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वानिश्चिका।

वह परम्परा से भी मोक्ष के अनुकूल न होने के सबब से योग नहीं कहा जाता। पातञ्जलदर्शन में भी अनादि सांसारिक काल के निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति इस प्रकार दो भेद बतलाए हैं, जो जैन शास्त्र के चरम और अचरम-पुद्गलपरावर्त के समानार्थक <sup>१</sup> हैं।

### योग के भेद और उनका आधार

जैनशास्त्र <sup>२</sup> में (१) अव्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे पाँच भेद योग के किये हैं। पातञ्जलदर्शन में योग के (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात, ऐसे दो भेद <sup>३</sup> हैं। जो मोक्ष का साक्षात्—अव्यवहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होने के बाद तुरंत ही मोक्ष हो, वही यथार्थ में योग कहा जा सकता है। ऐसा योग जैनशास्त्र के संकेतानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जलदर्शन के संकेतानुसार असम्प्रज्ञात ही है। अतएव यह प्रश्न होता है कि योग के जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है? इसका उत्तर यह है कि अलवृत्ता वृत्तिसंक्षय किंवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष का साक्षात् कारण होने से वास्तव में योग है। तथापि वह योग किसी विकासगामी आत्मा को पहले ही पहल प्राप्त नहीं होता, किंतु इसके पहले विकास-क्रम के अनुसार ऐसे अनेक आंतरिक धर्म-व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकास को बढ़ानेवाले और अंत में उस वास्तविक योग तक पहुँचानेवाले होते हैं। वे सब धर्म—व्यापार योग के कारण होने से अर्थात् वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात योग के साक्षात् किंवा परम्परा से हेतु होने से योग कहे जाते हैं। सारांश यह है कि योग के भेदों का आधार विकास का क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एक ही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योग के भेद नहीं किये जाते। अतएव वृत्तिसंक्षय जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, उसको प्रधान योग समझना चाहिए और उसके पहले के जो अनेक धर्म-व्यापार योगकोटि में गिने जाते हैं, वे प्रधान योग के कारण होने से योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारों की समष्टि को पातञ्जलदर्शन में सम्प्रज्ञात

१ योजनायोग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः।

स निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥१४॥

—अपुनर्वन्धद्वान्विशिका।

२ 'अव्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।

योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥१॥

—योगभेदद्वान्विशिका।

३ देखिए, पाद १, सूत्र १७ और १८।

कहा है और जैन शास्त्र में शुद्धि के तर-तम भावानुसार उस समष्टि के अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंक्षय के प्रति साक्षात् किंवा परंपरा से कारण होनेवाले व्यापारों को जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावी व्यापार कब से लेने चाहिए। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि चरम पुद्गलपरावर्तकाल से जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योग कोटि में गिने जाने चाहिए। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्ष के अनुकूल अर्थात् धर्म-व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें, पर अचरम पुद्गलपरावर्तकालीन व्यापार मोक्ष के अनुकूल नहीं होते।

### योग के उपाय और गुणस्थानों में यागावतार

पातञ्जलदर्शन में (१) अभ्यास और (२) वैराग्य, ये दो उपाय योग के बतलाये हुए हैं। उसमें वैराग्य भी पर-अपर रूप से दो प्रकार का कहा गया है<sup>१</sup>। योग का कारण होने से वैराग्य को योग मानकर जैन शास्त्र में अपर-वैराग्य को अतात्त्विक धर्मसंन्यास और पर-वैराग्य को तात्त्विक धर्मसंन्यास योग कहा<sup>२</sup> है। जैनशास्त्र में योग का आरम्भ पूर्व-सेवा से माना गया<sup>३</sup> है। पूर्वसेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समता से वृत्ति-संक्षय और वृत्तिसंक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है और पूर्व सेवा से लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किंवा परंपरा से योग के उपायमात्र<sup>४</sup> हैं। अपुनर्बन्धक, जो मिथ्यात्व को त्यागने के लिए

१. देखिये, पाद १, सूत्र १२, १५ और १६।

२. 'विषयदोषदर्शनजनितभयात् धर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावितात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यं यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः।'—श्रीयशोविजयजी-कृत पातञ्जल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

३. 'पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।

सदाचारतपो मुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥'

—पूर्वसेवाद्वात्रिशिका।

४. 'उपायत्वेऽत्र पूर्वेषामन्त्य एवावशिष्यते।

तत्पञ्चमगुणस्थानादुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥३१॥'

—योगभेदद्वात्रिशिका।

तत्पर और सम्यक्त्व-प्राप्ति के अभिमुख होता है, इसको पूर्वसेवा तात्त्विकरूप से होती है और सकृद्वन्धक, द्विर्वन्धक आदि को पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्वन्धक तथा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार-नय से तात्त्विक और देश-विरति तथा सर्व-विरति को निश्चय नय से तात्त्विक होते हैं। अप्रमत्त, सर्वविरति आदि गुणस्थानों में ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विकरूप से होते हैं। वृत्तिसंज्ञय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता<sup>१</sup> है। सम्प्रज्ञातयोग अध्यात्म से लेकर ध्यान पर्यन्त के चारों भेदस्वरूप है और असम्प्रज्ञातयोग वृत्ति-संज्ञयरूप है। इसलिए चौथे से बारहवें गुणस्थान तक में सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिए<sup>२</sup>।

**पूर्वसेवा आदि शब्दों की व्याख्या**

१. गुरु, देव आदि पूज्यवर्ग का पूजन, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष, यह 'पूर्वसेवा' कहलाती है। २. उचित प्रवृत्तिरूप अगुणव्रत-महाव्रत युक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो शास्त्रानुसार तत्त्व-चिन्तन करना, वह

१. 'शुक्लपद्मेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुणाः स्मृतः ।

भवाभिनन्ददोषाणामपुनर्वन्धको व्यये ॥१॥

अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावस्थान्तरं मार्गपतिताभिमुखौ पुनः ॥२॥'

—अपुनर्वन्धकद्वित्रिशिका ।

'अपुनर्वन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः

अध्यात्मभावनारूपोनिश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥

सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः ।

प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमावृतः ॥१५॥

शुद्धचपेक्षा यथायोगं चारित्र्यवत एव च ।

हन्त ध्यानादिको योगस्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥'

—योगविवेकद्वित्रिशिका ।

२. 'संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।

तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥

'असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंशयः ॥

सर्वतोऽस्मादकरुणानियमः पापगोचरः ॥२१॥'

—योगवतारद्वित्रिशिका ।

‘अध्यात्म’<sup>१</sup> है। ३. अध्यात्म का बुद्धिसंगत अधिकाधिक अभ्यास ही ‘भावना’<sup>२</sup> है। ४. अन्य विषय के संचार से रहित जो किसी एक विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्मबोध हो, वह ‘ध्यान’<sup>३</sup> है। ५. अविद्या से कल्पित जो अनिष्ट वस्तुएँ हैं, उनमें विवेकपूर्वक तत्त्व-बुद्धि करना अर्थात् इष्टत्व अनिष्टत्व की भावना छोड़कर अपेक्षा धारण करना ‘समता’<sup>४</sup> है। ६. मन और शरीर के संयोग से उत्पन्न होनेवाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का निर्मूल नाश करना ‘वृत्तिसंक्षय’<sup>५</sup> है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अपनी पातञ्जलसूत्र-वृत्ति में वृत्तिसंक्षय शब्द की उक्त व्याख्या की अपेक्षा अधिक विस्तृत व्याख्या की है। उसमें वृत्ति का अर्थात् कर्मसंयोग की योग्यता का संक्षय—हास, जो ग्रन्थि-भेद से शुरू होकर चौदहवें गुणस्थान में समाप्त होता है, उसी को वृत्तिसंक्षय कहा है और शुक्लध्यान के पहले दो भेदों में सम्प्रज्ञात का तथा अन्तिम दो भेदों में असम्प्रज्ञात का समावेश किया<sup>६</sup> है।

१. ‘औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिभावसंयुक्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥२॥’

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

२. ‘अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः ।

निवृत्तिरशुभाभ्यासाद्भाववृद्धिश्च तत्फलम् ॥६॥’

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

३. ‘उपयोगे विजातीयप्रत्ययाव्यवधानभाक् ।

शुभैकप्रस्थयो ध्यानं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥११॥’

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

४. ‘व्यवहारकुहृष्टयोच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।

कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥२२॥

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

५. ‘विकल्पस्पर्शरूपाणां वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।

अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥२५॥’

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

६ ‘द्विविधोऽप्ययमध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति’ इत्यादि ।

—पाद १, सू० १८ ।

### योगजन्य विभूतियाँ—

योग से होनेवाली ज्ञान, मनोबल, वचनबल, शरीरबल आदि संबन्धिनी अनेक विभूतियों का वर्णन पातञ्जलदर्शन में <sup>१</sup> है। जैनशास्त्र में वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान आदि सिद्धियाँ <sup>२</sup> वर्णित हैं, सो योग का ही फल हैं।

### बौद्ध मन्तव्य

बौद्धदर्शन में भी आत्मा की संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हुई हैं। इसलिए उसमें आध्यात्मिक क्रमिक विकास का वर्णन होना स्वाभाविक है। स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की स्थिति का वर्णन बौद्धग्रंथों में <sup>३</sup> है, जो पाँच विभागों में विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. धर्मानुसारी, २. सोतापन्न, ३. सकदागामी, ४. अनागामी और ५. अरहा। [१] इनमें से ‘धर्मानुसारी’ या ‘श्रद्धानुसारी’ वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अर्थात् मोक्षमार्ग के अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसी को जैनशास्त्र में ‘मार्गानुसारी’ कहा है और उसके पैंतीस गुण बतलाए हैं <sup>४</sup>। [२] मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुए आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपात, धर्मनियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको ‘सोतापन्न’ कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण पाता है। [३] ‘सकदागामी’ उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोक में जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। [४] जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोक से सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह ‘अनागामी’ कहलाता है। [५] जो सम्पूर्ण आसवों का क्षय करके कृतकार्य हो जाता है, उसे ‘अरहा’ <sup>५</sup> कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओं का वर्णन मज्झिमनिकाय में बहुत

१ देखिए, तीसरा विभूतिपाद।

२ देखिए, आवश्यक-निर्युक्ति, गा० ६६ और ७०।

३ देखिए, प्रो० सि० वि० राजवाड़े-सम्पादित मराठीभाषान्तरित मज्झिम-निकाय—

सू० ६, पे० २, सू० २२, पे० १५, सू० ३४, पे० ४, सू० ४८ पे० १०।

४ देखिए, श्रीहेमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १।

५ देखिए, प्रो० राजवाड़े-संपादित मराठीभाषान्तरित दीर्घनिकाय, पृ० १७६ टिप्पणी।

स्पष्ट किया हुआ है। उसमें वर्णन <sup>१</sup> किया है कि तत्कालजात वत्स, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हल में जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्प श्रम से गङ्गा नदी के तिरछे प्रवाह को पार कर लेते हैं, वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकार के आत्मा भी मार—काम के वेग को उत्तरोत्तर अल्प श्रम से जीत सकते हैं।

बौद्ध-शास्त्र में दस संयोजनाएँ—बंधन वर्णित <sup>२</sup> हैं। इनमें से पाँच 'ओरं-भागीय' और पाँच 'उड्ढं-भागीय' कही जाती हैं। पहली तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोतापन्न-अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग, द्वेष और मोह शिथिल होने से सकदागामी-अवस्था प्राप्त होती है। पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का नाश होनेपर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-अवस्था प्राप्त होती है और दसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर अरहा पद मिलता है। यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्म प्रकृतियों के क्षय के वर्णन-जैसा है। सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओं का विचार चौथे से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों के विचारों से मिलता-जुलता है अथवा यों कहिए कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानों का संक्षेपमात्र हैं।

जैसे जैन-शास्त्र में लब्धिका तथा योगदर्शन में योगविभूति का वर्णन है, वैसे ही बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक-विकास-कालीन सिद्धियों का वर्णन है, जिनको उसमें 'अभिज्ञा' कहते हैं। ऐसी अभिज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही गयी <sup>३</sup> है।

बौद्ध-शास्त्र में बोधिसत्त्व का जो लक्षण <sup>४</sup> है, वही जैन-शास्त्र के अनुसार सम्यग्-दृष्टि का लक्षण है। जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यदि गृहस्थ के आरम्भ समारम्भ

१. देखिए, पृ० १५६।

२. (१) सक्रायदिट्ठि, (२) विचिकच्छा, (३) सीलन्वत परामास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्वच्च और (१०) अबिजा। मराठीभाषांतरित दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी।

३. देखिए,—मराठीभाषांतरित मङ्गिभूमनिकाय, पृ० १५६।

४. 'कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्।

न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिम् ॥२७१॥'

—योगविन्दु।

आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपदन्यासवत् अर्थात् गरम लोहे पर रखे जानेवाले पैर के समान सकम्प या पाप-भीरु होती है। बौद्ध-शास्त्र में भी बोधिसत्त्व का वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीरमात्र से (चित्त से नहीं) सांसारिक प्रवृत्ति में पड़नेवाला कहा है<sup>१</sup>। वह चित्तपाती नहीं होता।

ई० १६२२ ]

[ चौथे कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना

- 
१. 'एवं च यत्परैरुक्तं बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।  
 विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥१०॥  
 तप्तलोहपदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ।  
 इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥११॥'

—सम्यग्द्विद्वात्रिशिका ।